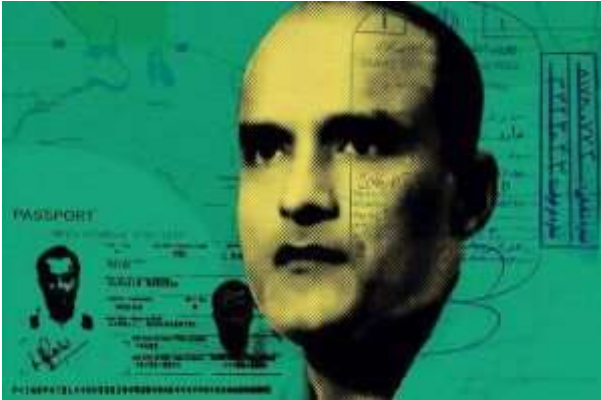


# THE ECONOMIC TIMES

*Date: 19-05-17*

## **Kulbhushan Jadhav case**

### ***India's bold decision to move ICJ pays off***



The government's bold step to move the International Court of Justice (ICJ) at The Hague has paid off. New Delhi has secured a temporary reprieve for Kulbhushan Jadhav with the United Nations' principal judicial organ ordering Pakistan to take all measures to ensure that the Indian national is not executed before the court gives its final judgment. While this is an interim order, for India it marks a significant diplomatic victory. India was able to demonstrate Pakistan's disregard for international conventions and its propensity to undermine the rule of law. The ICJ has endorsed India's contention that Pakistan has violated the Vienna Convention regarding consular access. It also made clear that Islamabad's argument that the 2008 bilateral agreement on consular access justifies

its decision to not give India consular access to Jadhav, as he was accused and subsequently found guilty of acts of espionage, was not in keeping with international norms. The subordination of the 2008 bilateral agreement to the Vienna Convention is a victory for India as well, preventing Pakistan from proceeding against Indian nationals in what are essentially secret trials — Jadhav was convicted by a military court without representation. In securing a unanimous verdict, India has succeeded in exposing Islamabad's consistent undermining of international norms. It has also helped India overcome its diffidence over moving international fora when dealing with Pakistan for fear of internationalising Kashmir. This is, however, a temporary reprieve. But Pakistan would be hard put to flout the interim order. The ICJ will now hear the case on merits. New Delhi must marshal its arguments to definitively demonstrate Islamabad's wilful disregard for the rule of law and international practice.

---

*Date: 19-05-17*

## **Coal auction better than allocation**

### ***Government should also get on with merchant mining***

It is welcome that the Union Cabinet has approved a transparent system of bidding for domestic coal supplies. Power producers that have power purchase agreements and no firm fuel supplies would now need to participate in reverse tariff auctions. And plants with no power pacts would need to bid for coal supply. These contracts should anticipate the possibility of the government getting around to opening up Indian coal to merchant mining, in which case there would be a functional market for coal that downgrades existing coal linkages from lifelines to just one kind of a long-term supply contract. If a future market for coal throws up significantly lower prices, the coal linkage contract should be flexible so as not to deny the buyer the benefit of better future prices merely because it agreed to a higher price at a time when there was only one seller in the market.



Easing the supply of coal will not address the problem of seeming excess capacity in the power sector. Generation capacity of several thousand megawatt remains idle, for want of firm demand from state power utilities. Given the weak finances of distribution utilities, and continuing lack of political will to levy reasonable user charges, the powers that be, it seems, simply prefer to back down rather than meet rising demand. We need to promptly overhaul such a bankrupt system. The fact is that reckless populism in the power sector, including political patronage of rampant theft of electricity and its non-billing, actually leads to massive fiscal stress. Many a state has been financially ruined thanks to a

perverse giveaway like free power. In any case, having no takers for new power plants or fuel capacity would merely stultify overall growth. The political economy of power must change.

In parallel, the entire logistics of evacuating domestic coal needs revisiting. We need to augment the capacity to efficiently move coal from the hinterland, by ship and rail. In tandem, there's the pressing need to increase investment in coal beneficiation, preferably of the dry kind, to conserve scarce water.



## दैनिक भास्कर

Date: 19-05-17

### तीन तलाक पर कानून बनाने में दिक्कत क्यों?

निकाह एक धार्मिक प्रक्रिया है। परिवार के नाते-रिश्तों, रीति-परम्पराओं से सामाजिक बुनावट मजबूत होती है। इस दृष्टि से निकाह का बड़ा महत्व है। किंतु तलाक की वजह से मुस्लिम समाज की बहुत फजीहत होती है। पीड़ित परिवार की हालत तो पूछिए ही मत। इस समस्या से उसके लिए बाहर आना लगभग असंभव-सा ही होता है। ऐसा होने पर भी समाज में तलाक की घटनाएं इतनी ज्यादा हो रही हैं कि उसका कोई समाधान निकालना समाज और सरकार दोनों के लिए ही एक चुनौती है। तलाक तो सामाजिक कलंक है। इस समस्या का समाधान न तो मजहबी नेताओं के पास है और सरकार के पास। इस संबंधी में अदालती नज़ीरों भी परस्पर विरोधी और भ्रम में डालने वाली हैं। यदि कोई फैसला न्यायालय में उदाहरण के तौर पर पेश करें तो उसी मुद्दे पर किसी अन्य अदालत का फैसला अलग होता है। ऐसे समय यह सवाल खड़ा हो जाता है कि आधार किस चीज का लिया जाए।

पर्सनल लॉ और अदालतों में ऐसे अनेक उदाहरण मिल जाते हैं कि कौन-सी नज़ीर स्वीकार करे इसका अदालत को दस-दस बार विचार करना पड़ता है। किस उदाहरण को आधार मानकर फैसला दिया जाए, यह चुनौती हो जाती है। इसकी वजह से समाज और कानून दोनों ही असहाय दिखाई देते हैं। इस तरह के विराधाभास का नतीजा यह होता है कि मूल मुद्दे को उलटी ही दिशा मिल जाती है। इसके कारण सामाजिक सुरक्षा कितनी दयनीय बन जाती है, यह अलग से बताने की जरूरत नहीं है। जिस तरह हमारे देश में सुप्रीम कोर्ट की संविधान पीठ तीन तलाक पर सुनवाई कर रही है, उसी प्रकार पाकिस्तान के सर्वोच्च न्यायालय में भी एक ऐसा ही मुकदमा चल रहा है। 11 से 19 मई तक चलने वाली सुनवाई में पांच न्यायाधीश तीन तलाक पर फैसला देंगे। इसमें पहला मुद्दा यह है कि किसी समुदाय का पर्सनल लॉ संविधान के अनुच्छेद 13 के दायरे में आता है क्या। दूसरा मुद्दा वहां यह है कि तीन तलाक, निकाह, हलाला और बहुविवाह आदि प्रथाएं संविधान के अनुच्छेद 25 के

अनुसार नागरिकों को दिए गए धार्मिक अधिकारों के दायरे में आता है क्या। इसका मतलब यह भी होता है कि क्या कोई समुदाय मज़हब की आड़ लेकर इन परम्पराओं को बचाने की इच्छा रखता है? उत्तराखंड में सायरा बानो ने तीन तलाक, निकाह, हलाला और बहुविवाह जैसी प्रथाएं समाप्त करने के लिए याचिका दायर की है। इन सब मुद्दों पर सर्वोच्च न्यायालय ने केंद्र सरकार को अपनी राय रखने को कहा है। इन्हें लेकर न्यायालय ने केंद्र सरकार के साथ संवाद साधा है। हालांकि, मौजूदा सुनवाई को लेकर सर्वोच्च न्यायालय ने स्पष्ट कर दिया है कि इसमें सिर्फ तीन तलाक पर ही विचार किया जाएगा। केंद्र सरकार ने इन परम्पराओं को समाप्त करने के पक्ष में अपनी राय दी है। मान लें कि यदि सर्वोच्च न्यायालय ने पर्सनल लॉ को संविधान के अनुच्छेद 13 के अंतर्गत कानून मान लिया तो फिर इसमें सुधार करने का अधिकार केंद्र सरकार को मिल जाएगा। ऐसा होने पर यह समस्या हमेशा के लिए खत्म होने की दिशा में रास्ता मिल सकता है। फिलहाल तो पीड़ित महिला के लिए इस मुश्किल से बाहर निकलने का कोई विकल्प नहीं है। लेकिन आने वाले समय में इस समस्या की जटिलता कम हो सकती है अथवा इसका पूरा ही समाधान निकल सकता है। इस संभावना को देखते हुए मुस्लिम पर्सनल लॉ बोर्ड की नींद उड़ गई है। साफ दिख रहा है कि पर्सनल लॉ बोर्ड बेचैन हो गया है।

मुस्लिम पर्सनल लॉ बोर्ड के सदस्य कल्बे सादिक ने कहा है कि सरकार को मुस्लिमों के पर्सनल लॉ में दखल नहीं देना चाहिए। आने वाले दो वर्षों में बोर्ड खुद ही तीन तलाक की परम्परा खत्म कर देगा। हालांकि वास्तविकता बिल्कुल अलग है। अनुभव बताता है कि मुस्लिम लॉ बोर्ड अथवा किसी भी मजहबी नेता को इस समस्या की कोई परवाह नहीं है। फिर वह सुन्नी हो या शिया अथवा देवबंदी या बरेलवी। ये नहीं चाहते कि इस मामले में सरकार देखल दें। लेकिन इसे समझना होगा कि यह समस्या यानी समाज को लगी घुन है। मजहबी नेताओं के कारण मुस्लिम महिलाओं को पुरुषों की तानाशाही का शिकार न बनना पड़ा हो, ऐसा कोई महीना नहीं गुजरता। ऐसे मामले में सबसे ज्यादा फजीहत छोटे बच्चों की होती है। ये बच्चे ममता के कारण मां को नहीं छोड़ते। मां जब बच्चों को छोड़कर जाती है तब इन बच्चों का क्रंदन दिल हिला देता है। यह दृश्य किसी भी संवेदनशील व्यक्ति को विचलित कर सकता है। ऐसी घटनाओं से किसी भी व्यक्ति का दिल पसीजे बगैर नहीं रह सकेगा क्या? ऐसी घटनाएं आंखों के सामने देखकर भी यदि किसी व्यक्ति का दिल नहीं पसीजता तो उसे पिता कहा जा सकता है क्या? आश्चर्य होता है कि समाज को बंधक बनाने वाले मुट्ठीभर मुल्ला और मजहब के ठेकेदारों को कुछ भी महसूस नहीं होता। तलाक के प्रकरण इतने बड़े पैमाने पर सामने आ रहे हैं कि समाज इससे आजीज आ गया है। हर विचारशील मानव को लगता है कि यह स्थिति बदलनी चाहिए। ऐसी पारिवारिक समस्याओं के सामने अदालतें और पुलिस दोनों लाचार हो जाते हैं। यह मजहबी और सामाजिक स्थिति बदलने के लिए मुस्लिम महिलाओं को ही आगे आना पड़ रहा है। ये अच्छे संकेत हैं। आज़ादी के बाद के 70 वर्षों में कुछ भी न होने के कारण जागरूक मुस्लिम महिलाएं और सोचने-विचारने वाले लोग आर-पार की लड़ाई के लिए आगे आ रहे हैं। अब वातावरण बन गया है कि जिसमें न्याय व्यवस्था भी ठोस भूमिका निभाएगी। देश में हो रही बहस और जनमत के दबाव को देखते हुए लगता है कि इस बार बदलाव आएगा। मोदी सरकार और प्रगतिशील लोगों के दबाव तो है ही खुद मुस्लिम महिलाओं ने दृढ़ रवैया अपनाया है। तय है कि कोई सुखद परिणाम आएगा। तलाक का सिर्फ शौहर और बीबी का नहीं, पूरे समाज का मसला है। धर्मनिरपेक्ष भारत को हलाला, बहुविवाह और तलाक पर कानून बनाने में अड़चनों का सामना करना पड़ता है यह खेद की बात है। दूसरी तरफ पाकिस्तान में हिंदू मैरिज बिल पारित हुआ है। पाक सरकार अपने देश के अल्पसंख्यकों के निजी जीवन पर कानून बना सकती है तो अपने देश में सबसे बड़े समुदाय मुस्लिमों की जीवनशैली को लेकर भारत सरकार कानून क्यों नहीं बना सकती?

**मुजफ्फर हुसैन, वरिष्ठ पत्रकार और स्तंभकार (ये लेखक के अपने विचार हैं)**

# बिज़नेस स्टैंडर्ड

**Date: 19-05-17**

## व्यापक कर दायरा

सरकार का कहना है कि नोटबंदी के चलते 91 लाख नए लोग कर दायरे में आ गए हैं। यह अहम उपलब्धि है क्योंकि वर्ष 2015-16 में 370 लाख लोगों ने आयकर रिटर्न भरा था और यह आंकड़ा सीधे एक चौथाई का इजाफा करता है। इसके अलावा सरकार ने नोटबंदी के बाद जो खोज और सर्वेक्षण अभियान चलाए उनकी बदौलत करीब 23,144 करोड़ रुपये मूल्य की अघोषित आय सामने आई। सरकार पहले ही 18 लाख लोगों को चिह्नित कर चुकी है जिनका नकद लेनदेन उनके कर प्रोफाइल से मेल नहीं खाता।

ऐसे करीब 10 लाख लोगों ने बिना आयकर कार्यालय गए ही अपनी ऑनलाइन प्रतिक्रिया दे दी है। इससे पता चलता है कि कैसे इस पूरी कवायद में तकनीक का जमकर इस्तेमाल किया गया और मानव हस्तक्षेप कम रहा। कम मानव हस्तक्षेप का अर्थ था भ्रष्टाचार की संभावना में कमी और प्रताड़ना में भी कमी। आयकर रिटर्न की ई-फाइलिंग में 22 फीसदी की बढ़ोतरी और करदाताओं को स्थायी खाता क्रमांक (पैन) के रोजाना आवंटन की तादाद के बढ़कर 200,000 हो जाने के बीच यह प्रतीत होता है कि देश में कर दायरे में खासा सुधार हो रहा है और कर व्यवस्था में सुधार भी कुछ रूप में सामने है। बहरहाल, इन उपलब्धियों का आकलन इस संदर्भ में करने की आवश्यकता है कि आयकर मशीनरी ने बीते कुछ वर्षों में कैसा प्रदर्शन किया है। कर दायरे में शामिल किए गए लोगों का अद्यतन आंकड़ा वर्ष 2012-13 का है। उस वक्त 48 लाख लोगों को कर दायरे में शामिल किया गया था। इससे पहले वर्ष 2011-12 में 36 लाख लोग कर दायरे में आए थे। कर विशेषज्ञ कहते हैं कि कर दायरे में जुड़ने वाले नए व्यक्तियों की तादाद का सही आकलन तभी हो पाएगा जबकि वर्ष 2015-16 तक के आंकड़े भी उपलब्ध हों। इसी प्रकार कर रिटर्न की ई-फाइलिंग में भी इजाफा हुआ है लेकिन इसकी सालाना वृद्धि बीते कुछ वर्षों में धीमी हुई है जिसे समझा जा सकता है। वर्ष 2015-16 में यह 27 फीसदी थी और 2016-17 में 22 फीसदी रह गई। यह भी माना जाना चाहिए कि लोगों को एक निश्चित कर चुकाकर अपनी अघोषित आय घोषित करने का अवसर देने के मामले में सरकार का रिकॉर्ड बहुत अधिक बेहतर नहीं रहा है। दूसरी बात, ऐसी योजना गत एक साल में ही सामने लाई गई है। ऐसी पहली योजना गत वर्ष सितंबर में समाप्त हुई। उसके अधीन 55,000 करोड़ रुपये की अघोषित आय सामने आई। इस राशि की घोषणा करने वालों को तीन किस्तों में 45 फीसदी कर चुकाना पड़ा। दूसरी योजना से महज 4,600 करोड़ रुपये सामने आए। यह इस बात का स्पष्ट संदेश था कि कर माफी की योजनाएं काला धन सामने लाने के वादे पर खरी नहीं उतर सकती हैं। अगर सरकार यह समझ जाए तो बेहतर होगा कि ऐसी माफी योजनाएं लोगों में कर अनुपालन से दूरी बनाने की प्रेरणा पैदा करती हैं क्योंकि उनको लगता है कि भविष्य में उनको भी ऐसी माफी मिल सकती है। इसके अलावा इससे एक और संदेश एकदम स्पष्ट रूप में सामने आता है। वह यह कि अधिक से अधिक लोगों को कर दायरे में लाने के लिए जहां सरकार ने काफी प्रयास किए और कर व्यवस्था को आसान बनाया, वहीं कर माफी योजनाओं से मिलने वाले लाभ भी अपर्याप्त हैं। जाहिर सी बात है जरूरत इस बात की है कि सरकार अधिक गहरे कर सुधारों पर नजर जमाए रखे और विभिन्न प्रकार के लेनदेन का पता लगाने के लिए डिजिटल तकनीक का अधिक से अधिक इस्तेमाल करे।



## नए परमाणु संयंत्र

पोखरण में पहले परमाणु परीक्षण की वर्षगांठ के मौके पर केंद्रीय मंत्रिमंडल की ओर से की गई इस घोषणा का खास महत्व है कि स्वदेशी तकनीक आधारित दस परमाणु संयंत्र स्थापित किए जाएंगे और उनके जरिये 7000 मेगावाट बिजली हासिल की जाएगी। निःसंदेह परमाणु ऊर्जा में आत्मनिर्भरता के मामले में यह एक बड़ा फैसला है, लेकिन अच्छा होता कि ऐसा कोई निर्णय बहुत पहले ही कर लिया जाता। ऐसा इसलिए, क्योंकि अमेरिका से परमाणु करार के बाद विभिन्न देशों के सहयोग से परमाणु संयंत्र स्थापित करने की दिशा में कोई उल्लेखनीय प्रगति होती नहीं दिख रही थी। हालांकि अमेरिका के साथ हुए परमाणु करार को ऐतिहासिक करार दिया गया था, लेकिन ऐसा लगता है कि प्रमुख देशों के रुख-रवैये से परिचित होने के बाद मोदी सरकार इस नतीजे पर पहुंची कि विदेशी सहयोग से परमाणु संयंत्र लगाने से बेहतर है अपने बलबूते आगे बढ़ना। इस नतीजे पर पहुंचने के पीछे यह भी हो सकता है कि एक तो अमेरिका, फ्रांस, रूस आदि का परमाणु सहयोग महंगा सौदा साबित हो रहा था और दूसरे ये देश भारत के परमाणु आपूर्तिकर्ता समूह यानी एनएसजी में भारत की सदस्यता के लिए अपेक्षित कोशिश भी नहीं कर रहे थे।

एनएसजी की सदस्यता में चीन रोड़ा बना हुआ है। परमाणु संयंत्र स्थापित करने में सहयोग देने के लिए आतुर देशों से यह अपेक्षित था कि वे चीन को भारत की राह में अड़ंगा न लगाने के लिए मनाएं, लेकिन शायद वे खानापूरी करने तक ही सीमित हैं। हैरत नहीं कि भारत ने इसी कारण चीन प्रायोजित वन बेल्ट-वन रोड सम्मेलन का बहिष्कार करने के बाद यह संकेत दिया कि वह रूस के साथ प्रस्तावित परमाणु समझौते को लेकर बहुत इच्छुक नहीं। स्वदेशी तकनीक आधारित दस परमाणु संयंत्र स्थापित करने की घोषणा यही बताती है कि भारत परमाणु ऊर्जा के मामले में दूसरे देशों की मदद का मोहताज नहीं। यदि वास्तव में ऐसा है तो फिर इतने दिनों तक अन्य देशों का मुंह क्यों ताका गया?

फिलहाल यह स्पष्ट नहीं कि दस परमाणु संयंत्र कब और कहां बनेंगे? कहीं सरकार की इस घोषणा का मकसद बड़े देशों को कोई संदेश देना भर तो नहीं? जो भी हो, परमाणु ऊर्जा संयंत्र स्थापित करने में भारी भरकम खर्च के साथ ही उनसे जुड़े जोखिम की अनदेखी नहीं की जानी चाहिए। यह सही है कि परमाणु ऊर्जा स्वच्छ ऊर्जा के मकसद को पूरा करती है, लेकिन आज जब सभी प्रमुख देश परमाणु ऊर्जा की दिशा में मुश्किल से ही आगे बढ़ते दिख रहे हैं तब फिर भारत को भी यह देखना चाहिए कि इस क्षेत्र में कितना आगे बढ़ा जाए? वर्तमान में भारत परमाणु ऊर्जा से 6780 मेगावाट बिजली हासिल करता है और 6700 मेगावाट क्षमता पर काम चल रहा है। लक्ष्य यह है कि 2030 तक परमाणु ऊर्जा से 35 हजार मेगावाट और 2050 तक 60 हजार मेगावाट बिजली हासिल की जाए। चूंकि ऊर्जा जरूरत बढ़ती जा रही है इसलिए लक्ष्य पर ध्यान केंद्रित करना ही होगा, लेकिन बेहतर यही है कि ऊर्जा के अन्य विकल्पों पर भी महारत हासिल की जाए। इसलिए और भी, क्योंकि भारत इसके प्रति प्रतिबद्धता जता चुका है कि वह स्वच्छ ऊर्जा के क्षेत्र में विश्व का अगुआ बनेगा।

*Date: 18-05-17*

## **Culture Needs A Plan**

### ***Institutions for the arts need professional managers for a turnaround***

This paper reported earlier this month that state-funded cultural institutions have been asked to generate revenue amounting to 25-30 per cent of their budget initially and “eventually” achieve “self-sufficiency”. The idea will remain utopian unless professional cultural managers are inducted to lead these institutions. The government needs to create a cadre of professional cultural managers which calls for professionals with a host of skills and training, among which is the requirement to be sensitive and knowledgeable about the wide, diverse and complex cultures and traditions of the Subcontinent.

Such persons alone will be able to create business plans for these decadent institutions, provide a vision to connect them to audiences and “markets”, evolve practical strategies to conserve traditional knowledge skills and creative expressions. Only then can these organisations create self-sustainability and have renewed relevance. In their present form, these are white elephants. Most of these institutions are now led either by artists (performing or visual) who have no idea of or training in administration, policy or management. Or, they are run or controlled by non-specialist bureaucrats.

The few professional cultural managers are not motivated to join since they are unable to provide appropriate remuneration and, most importantly, ensure functional autonomy. The dearth of professional cultural managers is unlikely to be addressed soon; not one eminent management institute in India offers a programme in cultural management. Most state-run cultural institutions across India have been unable to chart a meaningful functional role for creative communities or the preservation of their cultural traditions. Relevant outreach programmes have also not been created. Cultural ecosystems are rocked when a cultural skill or knowledge dies. It is similar to what happens when the tiger is endangered – the impact is felt all over the ecosystem. Several knowledge systems related to performing arts, crafts in India and communities that practice them now face the threat of massive deskilling and marginalization

There is no cultural policy that offers a holistic and realistic approach to this complex, contested terrain. Committees to formulate policies are mostly formed with artists and cultural academicians; rarely are cultural management professionals or cultural economists invited to join them. Not surprisingly, these committees are unable to evolve strategies to ensure sustainability and conservation of creative communities, and other manifestations of our rich cultural heritage. In the absence of professional cultural managers, bureaucrats in charge of these institutions take up the task of making India’s great cultural heritage visible on the international map. For example, the Festival of India model has not evolved since its inception in the 1980s.

Those in leadership positions can’t grasp the international discourse on culture as they are unfamiliar with its vocabulary. They fail to address conceptual frameworks while keeping in mind the Indian context and Indian artists’ interests. For instance, there is great attention given these days to ideas like cultural mapping and the conservation of intangible heritage, both by government and non-government institutions. However, there is a dearth of people who actually understand these complex issues or have the capacities to collect such data, which will involve large sums of public money. There is also a shortage of persons who are equipped to develop strategies to use the collected data in a manner that the welfare of the bearers of tradition, many of whom are living in poverty, are addressed. Just passing directions to recreate themselves as sustainable organisations will not generate the desired results, nor will a choice of leasing the land and infrastructure of these institutes to corporates provide a new functionality to these cultural institutions. There are, of course, people committed to

the field of cultural management and economics. The question is, if the government will induct them as professionals, as they do with scientists, health professionals and economists? If the cultural sphere is not addressed in a systematic, detached and professional manner, we risk to lose huge capital. Culture is too precious to be left Ram bharse!

***The writer is vice-president, Centre for New Perspective, an organisation that works on areas related to traditional skills and sustainable development***

---

***Date: 18-05-17***

## **What lies below the district?**

***Despite all the talk of decentralisation, nothing does. Nobody owns the planning and development functions in panchayat samitis and gram panchayats.***

The oldest existing statute is the Bengal Districts Act of 1836. It is a statute with a single sentence and says the following, "Power to create new zilas: It shall be lawful for the State Government, by notification in the Official Gazette, to create new zilas in any part of West Bengal". This is the text as it stands today, not as it was in 1836. There have been amendments in 1874, 1903, 1920, 1948 and 1950. The parallel legislation still exists in Bangladesh.

Two questions follow. First, why is such an old statute still on the statute books? Aren't old laws being cleaned up and scrapped? The answer has to do with Article 372(1) of the Constitution. The Bengal Districts Act of 1836 will have to be repealed by the West Bengal Assembly. Second, why does Bengal (West Bengal) alone need a specific statute to create a zila (district)? Other states have sufficient powers under relevant land revenue legislation to create and define districts, sub-divisions of districts and even villages. The answer probably lies in the way land revenue legislation evolved. Since states can create and change districts, the number of districts varies. The 2001 Census had 593 districts, the 2011 Census had 640; the number has crossed 700 now. With that 2011 base, Uttar Pradesh had 71 districts and Lakshadweep had one. Though not explicitly stated, more districts are presumably created for administrative convenience and delivering public goods and services better. Take the Upper Dibang Valley in Arunachal Pradesh. In 2011, this had a population of 7,984 and a geographical area of 9,129 square kilometres. This makes it India's largest district, but one with the lowest population density. The district headquarter is Anini and you can imagine the distance of other parts of Upper Dibang from Anini. When deciding on new districts, there are obvious criteria like population, geographical area and the distance from district headquarters. But the right answer isn't always obvious. Once revenue laws have determined districts, government development programmes work through DRDAs (District Rural Development Agency), at least on the rural side; there are also elected representatives, through zila panchayats or parishads (ZPs) or district councils, further down to blocks and villages. The number of ZPs is 618, a little lower than the number of districts, because there are urban districts too. (All such numbers change, depending on the year.) Once there is a new district, barring time-lags, there will also be a new ZP, through the relevant state election commission. Think of various entities involved in a district's development — the district collector/district magistrate/district Commissioner, the DRDA, the MP, multiple MLAs and ZPs. Unless they work together, a lot of resources, not just financial, will be frittered away. Because of the DRDA structure, it probably works at the district level. I am not suggesting it works perfectly. For instance, making the ZP president the chairperson of the DRDA doesn't necessarily mean the ZP works in tandem with the DRDA. Below the district level, I don't think it works at all.

There are 6,603 intermediate-level panchayats and 2,49,016 gram panchayats. At the district level, one can at least argue the DRDA chairperson has oversight about the district's development and MPs or MLAs are part of

the DRDA. In principle, it should be possible to work on district-level planning. That's true even if the DRDAs are replaced by something like rural development cells in ZPs, to function as district planning committees. However, I don't think one can be that unambiguous at the sub-district level. Going back to the 1950s, government development programmes are through community development blocks (CD blocks), under the overall charge of a BDO (block development officer). Let's take Andhra Pradesh as an example. The sub-unit of a district is a revenue division and the sub-unit of a revenue division is a mandal. I don't need to give instances from other states since the point is a simple one. In different states, it is called a mandal, circle, tehsil, taluka, sub-division, CD block, but there is often a revenue division or circle above it.

Other than the BDO, there is the tehsildar/talukdar and the intermediate-level panchayat, variously referred to as the mandal, taluka or block panchayat or panchayat samiti. Sure, the BDO, MP and MLAs are members of the panchayat samiti. But there isn't a sense that there is a coherent governance structure at the panchayat samiti level, straddling the elected, the executive and land and revenue administration, the last specifically mentioned because development typically requires land issues to be sorted out. Stated differently — no single entity is clearly responsible for a block's development. That argument extends lower down, to the gram panchayat, and these have got a substantial amount of resources, courtesy the Fourteenth Finance Commission. I am not merely making standard points about capacity, a lack of devolution of functions, funds and functionaries, convergence and separate cadres. Perhaps those are prerequisites before one can answer my question. Decentralised planning is meant to start from below and "below" doesn't mean the district. Gram panchayats/gram sabhas are supposed to have several "planning" functions. The intention is to make planning participatory. But unlike the district, and like the block, we don't have a coherent governance and administrative structure. Unlike even the panchayat samiti, there is no direct link between the executive and the elected in the gram panchayat. Thus, unlike the district, who "owns" the planning and development functions in panchayat samitis and gram panchayats? I don't think anyone does. Hence, whenever we talk about decentralised planning, we tend to think of districts — and nothing below.



**THE HINDU**

**Date: 18-05-17**

## **The other debt issue: on the States' finances**

### ***The deterioration in the finances of the States needs to be urgently addressed***

For the first time in 11 years, in 2015-16 the combined fiscal deficit of India's 29 States as a proportion of the size of their economies breached the 3% threshold recommended as a fiscally prudent limit by successive Finance Commissions. The Reserve Bank of India has warned that the States' expectation to revert to the 3% mark in their 2016-17 Budgets may not be realised, based on information from 25 States. While the Central government has projected a fiscal deficit of 3.2% of GDP for this year, States expect to bring theirs down further to 2.6% — still higher than the average of 2.5% clocked between 2011-12 and 2015-16. Whichever way one looks at it, the steady gains made in States' finances over the past decade seem to be unravelling. Chief Economic Adviser Arvind Subramanian has asserted that the 3% of GDP benchmark for the fiscal deficit of the States or the Centre is not a magic number. Yet, it serves as an anchor for fiscal discipline in a country whose two biggest crises in recent decades — the balance of payments trouble in 1991, the currency tumble in 2013 — were precipitated by fiscal irresponsibility. Taking on the massive debt of their chronically loss-making power distribution companies, as part of the UDAY restructuring exercise steered by the Centre, has surely dented the States' fiscal health significantly over the past couple of years. With private investment remaining elusive, the



States' focus on bolstering capital expenditure in sectors such as transport, irrigation and power is welcome (States' capital expenditure as a proportion of their GDP has been higher than the Centre's since 2011-12). But it is important that such funding remains sustainable and States stay solvent. Tepid economic growth hasn't helped, and States have had to resort to higher market borrowings even after the Centre hiked their share from tax inflows to 42% from 32%, starting 2015-16. The Centre has been short-changing States by relying on special levies such as surcharges, cesses and duties that are not considered part of the divisible tax pool. So, instead of a 10% rise in the States' share of gross tax revenue, the actual hike in 2015-16 was just 7.7%. The forthcoming Goods and Services Tax regime should, it is to be hoped, correct this anomaly to an extent. But there are other potential stress points: Pay Commission hikes, rising interest payments, the unstated risks from guaranteeing proxy off-budget borrowings by State enterprises, and the boisterous clamour for *ad hoc* loan waivers. The N.K. Singh panel on fiscal consolidation has recommended a focus on overall government debt along with fiscal deficit and a 20% debt-to-GDP ratio for States by 2022-23. Not just the Centre, but States (with outstanding liabilities to GDP of around 24% as of March 2017) also need to tighten their belts considerably from here, even as they await the constitution of the Fifteenth Finance Commission

---

## राष्ट्रीय सहारा

**Date: 18-05-17**

### रोकने के लिए पोर्टल

सरकार द्वारा ऑपरेशन क्लीन मनी नाम से आरंभ वेब पोर्टल इस मायने में महत्वपूर्ण है कि इस पर कालेधन से संबंधित छापेमारी की पूरी जानकारी डाली जाएगी। वास्तव में अभी तक जो भी जानकारी जनता के पास आती थी, वह सूत्रों के हवाले से मीडिया द्वारा जिसे हम पूर्ण और सटीक जानकारी नहीं कह सकते। इससे सटीक जानकारी मिल सकेगी तथा अनुमानों की संभावनाएं खत्म हो जाएंगी। यह पश्चिम हमेशा से उठता रहा है कि जब सरकार हर चीज का डिजिटलीकरण कर रही है तो फिर आयकर छापों से लेकर जो आय छिपाते हैं या जिनका जमा धन किसी तरह उनकी आय से ज्यादा है उन सबका रिकॉर्ड सार्वजनिक क्यों नहीं किया जाता? जैसे ही इसकी जानकारी साइट पर आएगी सब कुछ आइने की तरह साफ हो जाएगा। अगर कर विभाग छापेमारी की खबरों को वेबसाइट पर डालेगा तो उसका भय दूसरे लोगों के अंदर भी पैदा होगा। यही नहीं वेबसाइट उस प्रक्रिया की संपूर्ण जानकारी देगी जिसके चलते कर चोरी की पहचान की गई थी। साथ ही कार्रवाई को उल्लंघन के विशेष विभिन्न स्तरों-अत्यधिक जोखिम, मध्यम जोखिम, कम जोखिम और बहुत कम जोखिम के आधार पर उल्लेखित किया जाएगा। अत्यधिक जोखिम वाले व्यक्तियों या समूहों को तलाशी, जब्ती और सीधे पृच्छताछ जैसी कार्रवाई का सामना करना पड़ेगा। मध्यम जोखिम वाले कर चोरी करने वालों को एसएमएस या ई-मेल के जरिये सूचित किया जाएगा और बहुत कम जोखिम वाले लोगों पर नजर रखी जाएगी। हालांकि जब तक ऐसे लोगों की जांच पूरी नहीं होगी तब तक वेबसाइट पर व्यक्ति विशेष और समूहों की पहचान उजागर नहीं की जाएगी। यह भी एक उचित फैसला है। इस पोर्टल की एक उपयोगिता यह होगी कि उसके जरिये ऐसे लोगों पर नजर रखी जाएगी और पोर्टल पर उनको आगाह किया जाएगा जो लोग करदाता नहीं हैं। लेकिन उसके बावजूद वे बड़े लेन-देन कर रहे हैं। आगाह करने का मतलब होगा कि कर देना शुरू कर दीजिए नहीं तो आपके खिलाफ कार्रवाई होगी। इस प्रकार स्वच्छ धन अभियान के तहत आरंभ इस पोर्टल की प्रासंगिकता और बहुआयामी उपयोगिता अपने आप स्पष्ट है।

---